शिरमोर दार्शनिक आचार्यप्रवर श्री सिद्धसेन दिवाकरजी की १९वीं द्वात्रिंशिका का एक अधिक प्राप्त हुआ पद्य

मुनि जंबूविजय

भगवान् श्री दिवाकरजी की द्वात्रिंशिकाओं के सभी अभ्यासकर्ताओं को अच्छी तरह विदित है कि यह कितनी अतिगूढ और अतिगहन है । इसका अर्थ सुलझानेमें अभ्यासिओं को अनेक स्थान पर काफ़ी मुसीबत का अनुभव होता है । अगर शुद्ध कारिकाओं में भी अर्थ परिज्ञान के लिए इस तरह के कष्ट का अनुभव करना पड़े तो जहाँ पाठों की अशुद्धि हो वहाँ इस तरह की अपार मुश्किलों का अनुभव करना पड़े इसमें क्या आश्चर्य ? **न्यायावतार** को छोड़कर अन्य द्वात्रिंशिकाओं पर टीका ग्रंथ भी नहीं रचे गये जिसके आधार पर पाठ-शुद्धि तथा अर्थ-परिज्ञान आसानी से किया जा सके । शायद किन्हीं पूर्वाचार्यों ने ये टीकाग्रंथों की रचना की होगी तो भी इस समय तो ये नितांत अज्ञात और अप्राप्य ही है। अपितु ऐसे गूढ़ ग्रंथों में प्रमाणभूत आधार से पाठशुद्धि की जाये तभी सफलता की अधिक संभावना हो सकती है वर्ना, सिर्फ अमुक प्रकार की विचारणा के बल पर ही यदि पाठशुद्धि की जाये तो ऐसा करने पर अशुद्ध पाठों में बढ़ावा ही हो जाता है । इसलिए ऐसे ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ जहाँ कहीं से भी प्राप्य हो खोज खोज कर प्राप्त करके उसमें से शुद्ध पाठों को अलग किये जाय यही पाठ-शुद्धि का उत्तम मार्ग है।

गत वर्ष हम पूना में थे; तब श्रुतज्ञान के अखंड उपासक पू॰ मुनिराजश्री पुण्यविजयजी महाराज सा॰ का इस बारे में एक पत्र आया कि "वहाँ पूना में भांडारकर प्राच्य विद्यामंदिर (Bhandarkar Oriental Institute) में सिद्धसेन दिवाकरजी प्रणीत द्वात्रिंशिकाओं की ताड़पत्र पर लिखी गई एक प्राचीन प्रति है। जैन धर्मप्रचारक सभा (भावनगर) की ओर से प्रकाशित मुद्रित प्रति की उसके साथ तुलना करके उसमें से तुम पाठांतर ले लेना ।" यह पत्र पढ़कर इस प्रति को प्राप्त करने के लिए मैंने प्रयास किया लेकिन, संस्था के संचालक ताड़पत्र पर लिखे गये ग्रंथों को संस्था के मकान के बाहर ले जाने के लिए किसी को भी नहीं देते हैं [।] इसलिए वहाँ जाकर ही पाठांतरों को प्राप्त करने की मैंने शुरूआत की ।

पाठांतर लेने पर मालूम हुआ कि शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दोनों प्रकार के पाठांतर उसमें मिलते थे। उसमें ऐसे सुन्दर अनेक शुद्ध पाठ भी मुझे मिलने लगे लक्ष्य प्राप्ति में सफल होने के कारण मैं बेहद आनंद का अनुभव कर रहा था । लेकिन जब १९वीं बत्तीशी का पाठांतर ले रहा था उस समय तो मेरी खुशी का पार न रहा । मुद्रित में नहीं छपा हुआ एक पूरा का पूरा पद्य ही मुझे उसमें से अधिक प्राप्त हुआ । मुद्रित १९वीं द्वात्रिंशिका में कुल मिलाकर ३१ पद्य हैं उनमें ११वाँ पद्य निम्नानुसार छपा हुआ है :-

परस्परस्पृष्टगतिर्भावनापचयाध्वनिः । बद्धस्पृष्टगमद्व्यादिस्नेहरौक्ष्यातिशायनात् ॥११॥

भांडारकर संस्था की ताड़पत्रि में इस स्थान पर दो कारिकाएँ हैं, और उसका क्रम निम्नानुसार है :-

परस्परस्पृष्टगतिर्भावनापचयाध्वनिः । पृष्ट ग्राह्यश्रुते सम्यगर्थ भावोपयोगतः ॥११॥

संघात-भेदो-भयतः परिणामाच्चसंभवः । बद्धपृष्ट गम(सम)द्व्यादिस्नेहरौक्ष्यातिशायनात् ॥१२॥

भांडारकर संस्था की प्रति के अलावा दूसरी हस्तलिखित प्रति में यह कारिका देखने को नहीं मिलती है। इस कारण से यह एक महत्त्व की प्राप्ति है । इस कारिका को उसमें जोड़ने पर द्वात्रिंशिकाओं की ३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की संख्या भी परिपूर्ण हो जाती है ।★

प्रति संपूर्ण ही है; परंतु उसमें प्रारंभकी २० बत्तीशियाँ ही हैं । पत्र-४८ हैं । लंबाई-चौड़ाई २x१४ ईंच हैं । एक द्वात्रिंशिका के अंतमें 'इति द्वेष्यश्वेतपटसिद्धसेनाचार्यस्य कृतिः' ऐसा विशिष्ट एवम् विचित्र उल्लेख भी है ।

भांडारकर संस्था में इस ताड़पत्रप्रति पर से ही कागज़ पर की गई एक प्रतिलिपि (= नकल) भी है । जो कि नकल करने वाले लेखक ने इसमें कुछ स्थान पर अशुद्ध पाठों को जोड़ दिया है फिर भी पाठांतर लेनेवाले इच्छुक को तो बहुत ही उपयुक्त है । अगर किसी महानुभाव की स्वयं पाठांतर लेने की इच्छा हो तो इस कागज़ पर की गई नकल का उपयोग किया जा सके ऐसा है । ताड़पत्र पर लिखे गये ग्रंथ संस्था के बाहर ले जाने के लिए नहीं देते, लेकिन कागज़ पर लिखे ग्रंथ संस्था के नियमों का पालन करते हुए चाहे वहाँ यहाँ तक कि बाहर गाँव भी लेजाने के लिए मिल सकते हैं ।

एक प्रासंगिक विचारणा

१९वीं द्विर्त्रिशिका की रचनामें दिवाकरजी ने भगवान् उमास्वाति के **तत्त्वार्थसूत्र** का खास उपयोग किया है । **दर्शन-ज्ञान चारित्राण्युपायाः शिवहेतवः** । यह १९वीं द्वात्रिंशिका की पहली कारिका का पूर्वार्ध पढ़ते ही स्पष्ट देखा जाता है कि इसमें **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः [तत्त्वार्थ॰** १।१।] सूत्र की स्पष्ट छाया है। ऐसे दूसरे भी स्थल हैं । उसी प्रकार यह कारिका भी **तत्त्वार्थसूत्र** का अनुसरण करती है।

संघात भेदो-भयतः परिणामाच्च संभवः यह अंश **"संघात भेदेभ्य उत्पद्यन्ते"** [**तत्त्वार्थ॰** ५।२६] इस सूत्र को अनुसरता है जो कि मूलसूत्र में संघात और भेद दो का ही उल्लेख है, तो भी भाष्य में संघात, भेद और उभय इन तीनों का निर्देश है । इससे यहाँ दिवाकरजी ने भाष्यका उपयोग किया है, ऐसा भी मालूम पड़ता है।

तत्त्वार्थसूत्र की दो पाठ्यपरंपरा प्रवर्तमान हैं । एक भाष्यसंमत पाठ परंपरा है जिसका सभी श्वेताम्बर अनुसरण करते हैं, क्योंकि भाष्य को स्वोपज्ञ—उमास्वाति प्रणीत—ही मानते हैं । दूसरी **सर्वार्थ सिद्धि**सम्मत पाठ परंपरा है जिसे सभी दिगंबर अनुसरते हैं । कुछ स्थानों पर इस पाठभेद के साथ बड़ा अर्थभेद भी पड़ जाता है । इस स्थान पर दिगंबर परंपरा में **'भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते'** ऐसा सूत्रपाठ है, जबकि श्वेतांबर परंपरा में **'संघात-भेदेभ्य उत्पद्यन्ते'** ऐसा भाष्यसम्मत सूत्रपाठ है । दिवाकरजी ने भाष्यसम्मत सूत्रपाठ का अनुसरण किया है इसकी यहाँ स्पष्ट रूप से प्रतीति होती है ।

उसी प्रकार **'बद्धस्पृष्टगम(सम)द्व्यादिस्नेहरौक्ष्यातिशायनात्'** यह कारिका का अंश **"द्व्यधिकादिगुणानां तु"** और **"बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ" [तत्त्वार्थ॰** ५।३५।३५] इस सूत्र के साथ संबंध रखता है । **द्व्यधिकादिगुणानां तु** इस सूत्र का दिगंबर और श्वेतांबर परंपरा में भिन्न भिन्न अर्थ माने जाते हैं । दिगंबरों 'आदि' शब्दका '= वगैरह' ऐसा अर्थ न करते 'प्रकार' ऐसा अर्थ करते हैं । अर्थात् **सर्वार्थसिद्धि** आदि सभी दिगंबरीय व्याख्याओं के अनुसार अजघन्यगुणस्निग्ध या अजघन्य गुणरुक्ष परमाणुका उसमें 'द्व्यधिक' ऐसे गुणी के साथ ही बंध माना जाता है; त्र्यधिक[,] चतुरधिक आदि गुणवाले के साथ बंध नहीं माना जाता लेकिन श्वेतांबर परंपरामें भाष्य और भाष्यानुसारी वृत्ति के अनुसार 'आदि' शब्द का = 'वगैरह' ऐसा सीधा अर्थ ही लिया जाता है और इससे त्रिगुणाधिक, चतुर्गुणाधिक, यावत् अनंत गुणाधिक के साथ भी बंध माना जाता है ।

★ इस संपूर्ण द्वात्रिंशिका हमने लेख के अन्त में सन्दर्भार्थ दे दी है । – **संपादक**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्व्यादिस्नेहरौक्ष्यातिशायनात् [ऐसा] दिवाकरजी के वचनसे उन्होंने भाष्यसंमत मान्यता का ही अनुसरण किया है यह स्पष्टतया दिखाई देता है ।

३६ वें सूत्र में दिगंबर परंपरा में **बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ** ऐसा सूत्रपाठ है, जबकि श्वेतांबर परंपरा में **बन्धे समधिकौ पारिणामिकौ** ऐसा सूत्र पाठ है । दिगंबरमतानुसार द्विगुणस्निग्ध का द्विगुणरुक्ष के साथ और त्रिगुणस्निग्ध का त्रिगुणरुक्ष के साथ---ऐसे समगुणस्निग्ध का समगुणरुक्ष के साथ बंध नहीं माना जाता परंतु, भाष्यसम्मत पाठानुसारी श्वेतांबर परंपरा में इस प्रकार का (समगुणस्निग्ध का समगुणरुक्ष के साथ) बंध माना जाता है **बद्धस्पृष्टगम(सम)**—इस वचन से दिवाकरजी ने भाष्यसम्मत परंपरा को ही स्वीकार किया है यह हम देख सकते हैं ।

दिगंबर परंपरा में विद्यमान तत्त्वार्थवृत्तियों में **पूज्यपाद** नाम से प्रसिद्ध आचार्य देवनन्दि द्वारा रचित **सर्वार्थसिद्धि** सबसे प्राचीन वृत्ति है । अकलंक आदि सभी दिगंबर वृत्तिकार इस **सर्वार्थसिद्धि**मान्य सूत्र पाठ का ही समर्थन करते हैं । दिवाकरजी सर्वार्थसिद्धिकार से भी प्राचीन हैं । (इस विषयमें विस्तृत जानकारी के लिए देखें **भारतीयविद्या** के सिंधी स्मारक अंक में पं॰ सुखलालजी का लेख) क्योंकि **पूज्यपाद** ने **सर्वार्थसिद्धि** में दिवाकरजीकी बत्तीसी में से एक कारिकार्ध उद्धृत किया है । इसी पूज्यपादप्रणीत **जैनेन्द्र** व्याकरण में सिद्धसेनाचार्य का नामोल्लेख पूर्वक दिवाकरजी के मत का निर्देश भी किया गया है।

यह, श्री **मल्लवादि**क्षमाश्रमण प्रणीत **द्वादशारनयचक्र** की वृत्ति में टीकाकार श्री **सिंहसूर**गणिवादि-क्षमाश्रमण ने **यत्रह्यर्थो वाच्यं (वाचं ?) व्यभिचरति नाभिधानं तत्** ऐसा शब्दनय का लक्षण **तथाचाचार्य सिद्धसेन आह** ऐसे नामोल्लेखपूर्वक उद्धृत किया है[x] । और सभी स्थान पर **सिद्धसेना**चार्य के नाम टीकाकार द्वारा उद्धृत किये प्राप्य वचन दिवाकरजी के ही हैं, इससे यह सिद्धसेनाचार्य भी दिवाकरजी ही थे ऐसी संभावना है । **तत्त्वार्थ**भाष्य में (अध्याय १) नय निरूपण में **यथार्थाभिधानं शब्दः** ऐसा शब्दनय का लक्षण आता है । इसके साथ सिद्धसेनाचार्य के नाम से उद्धृत किये गये शब्दनय के लक्षण को सूक्ष्मतासे तुलना करने पर श्री सिद्धसेनाचार्य के शब्दनय के लक्षणों का **तत्त्वार्थभाष्य**गत शब्दनय के लक्षण के साथ संबंध है ऐसा स्पष्ट देखा जाता है । इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि - दार्शनिक शिरोमणि आचार्यप्रवर श्री सिद्धसेन दिवाकरजी ने **तत्त्वार्थ**भाष्य का भी उपयोग किया है ।

निपाणि (महाराष्ट्र), सं॰ २००४ माघशीर्ष कृष्णा १० ता॰ ५-१-१९४८ ।

[यह महत्त्वपूर्ण लेख **श्री जैन सत्य प्रकाश** वर्ष १३, अंक ४, क्रमांक १४८, संवत् १९४८, पृ॰ ११४-११६, में मूलतः गुजराती में प्रकाशित हुआ था]

---

x यहाँ **यत्रह्यर्थो वाच्यं न व्यभिचरति अभिधानं तत्**---इस तरह अन्वय करने से यह वाक्य विधिप्रधान है और उसमें शब्दनय के लक्षण का विधान किया गया है यह बराबर समझ में आयेगा । तत्त्वार्थटीकाकार गंधहस्ती श्री सिद्धसेन मणि ने भी इस वाक्य को **तथाचोच्यते 'यत्र ह्यर्थो वाचं न व्यभिचरत्यभिधानं तत्'** इस रीति से ही उद्धृत किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org